1. सामाजिक जीवन (Social Life)

ऋग्वैदिक-काल की तुलना में इस काल के सामाजिक जीवन में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन हो गये थे :

(i) **वर्ण-व्यवस्था**—समाज में ब्राह्मणों और क्षत्रियों का स्थान श्रेष्ठ हो गया। ब्राह्मणों ने अपनी श्रेष्ठता का दावा किया परन्तु क्षत्री इसमें उनके प्रतिद्वन्द्वी बने रहे। बाद में इन दो वर्णों में व्यावहारिक समझौता हो गया। ब्राह्मण और क्षत्री, दोनों ही समाज के ऐसे वर्ग थे जो उत्पादन में कोई भाग नहीं लेते थे, परन्तु उत्पादन से अधिक लाभ स्वयं प्राप्त करना चाहते थे। दोनों की प्रतिद्वन्द्विता का मूल कारण भी, सम्भवतया, यही आर्थिक कारण था। बाद में व्यावहारिकता के कारण दोनों वर्गों ने पारस्परिक समझौता कर लिया जिसके द्वारा ब्राह्मणों को सम्मान की दृष्टि से श्रेष्ठ स्थान प्रदान कर दिया गया और क्षत्रियों ने धीरे-धीरे भूमि पर स्वामित्व के अधिकार को प्राप्त कर लिया। इसी कारण, यद्यपि इस काल में राजा को भूमि का स्वामी स्वीकार नहीं किया गया तब भी उसे किसी व्यक्ति को भूमि से पृथक् करने का अधिकार प्राप्त हो गया। वैश्यों का स्तर उन दोनों की अपेक्षा कुछ निम्न समझा गया और शूद्रों की स्थिति गिरने लगी। साधारणतया श्रेष्ठ जाति वाले पुरुष निम्न जातियों की कन्याओं से विवाह कर सकते थे, परन्तु निम्न जाति वाले पुरुष अपनी जाति से श्रेष्ठ जाति की कन्या से विवाह नहीं कर सकते थे। परन्तु तब भी अन्तर्जातीय-विवाह होते थे। केवल शूद्रों से विवाह-सम्बन्ध करना अच्छा नहीं समझा जाता था। इस प्रकार उत्तरवैदिक-काल में समाज स्पष्टतया चार वर्णों अथवा जातियों में विभाजित हो गया। परन्तु अभी यह जाति-व्यवस्था कठोर न थी। अन्तर्जातीय-विवाह और खानपान पर कोई बाधा न थी और एक व्यक्ति की जाति उसके कार्यों से निश्चित होती थी। केवल शूद्र इसमें एक अपवाद बनते जा रहे थे। उत्तर-वैदिक काल में यज्ञोपवीत संस्कार का अधिकार शूद्रों को नहीं था। वर्ण-व्यवस्था की यह स्थिति उपनिषद्-काल तक रही। धर्म-सूत्रों, महागाथा-काल और उसके पश्चात् स्मृति-काल तक धीरे-धीरे यह कठोर और गतिहीन होती गयी, यहाँ तक कि स्मृति-काल में हमें अस्पृश्य जाति के भी प्रमाण प्राप्त हो जाते हैं।

(ii) **आश्रम-व्यवस्था**—उत्तरवैदिक-काल में (मुख्यतया स्मृति-काल में) मनुष्य के जीवन को 25-25 वर्ष के चार भागों में बाँटा गया। 25 वर्ष की आयु तक व्यक्ति को विद्यार्थी के लिए *ब्रह्मचर्य-जीवन* का पालन करना पड़ता था। 25 से 50 वर्ष की आयु तक व्यक्ति *गृहस्थ-जीवन* व्यतीत करता था जिसमें पत्नी और बच्चों के साथ रहना, धन कमाना और अतिथि का स्वागत-सम्मान करना उसके प्रमुख कर्तव्य माने जाते थे। 50 से 75 वर्ष की आयु तक व्यक्ति को *वानप्रस्थ-आश्रम* में रहना पड़ता था जिसमें वह केवल अपनी पत्नी के साथ जंगल में निवास करता था और आध्यात्मिक प्रगति का प्रयत्न करता था। अन्त में, 75 से 100 वर्ष की आयु में व्यक्ति अपनी पत्नी को भी छोड़कर *संन्यासी* का जीवन व्यतीत करता था तथा मोक्ष-प्राप्ति का प्रयत्न करता था। इस प्रकार इस काल में आर्यों ने जीवन को ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—इन चार भागों में बाँटकर तथा विभिन्न आयु में व्यक्ति के विभिन्न कर्तव्य निश्चित करके व्यक्ति की भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही प्रकार की प्रगति करने का मार्ग बताया था। उत्तरवैदिक काल में इन चार आश्रमों का स्पष्ट जिक्र नहीं मिलता। आरम्भ में तीन आश्रम प्रचलित हुए—'ब्रह्मचर्य' 'गृहस्थ' एवं 'वानप्रस्थ'।

आश्रम व्यवस्था का सर्वप्रथम उल्लेख *छान्दोग्योपनिषद्* में मिलता है। उत्तर-वैदिक काल के अन्त में आकर चौथा आश्रम भी प्रचलित हो गया। सर्वप्रथम *जाबालोपनिषद्* से चारों आश्रमों का वर्णन मिलता है। साधारणतया एक व्यक्ति अपने जीवन में इन चारों आश्रमों का

Scanned with CamScanner

पालन करता था, परन्तु एक व्यक्ति स्वेच्छा से ब्रह्मचर्य आश्रम के बाद किसी भी आश्रम में जा सकता था।

(iii) **स्त्रियों की स्थिति**—इस काल में भी स्त्री सम्बन्धी कुप्रथाएँ आरम्भ नहीं हुई थीं। विवाह अब भी एक पवित्र बन्धन माना जाता था जिसका मुख्य उद्देश्य सन्तान उत्पन्न करना था। इस काल में आठ प्रकार के विवाह प्रचलित थे—

1. **ब्रह्म-विवाह**—जिसमें पिता अपनी इच्छा से अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से करता था।
2. **दैव-विवाह**—जिसमें पिता अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से पुरोहित की सहायता से करता था।
3. **अर्श-विवाह**—जिसमें पिता वर-पक्ष की आर्थिक स्थिति को जानने के लिए वर-पक्ष से गाय या बैल उपहार के रूप में स्वीकार करके अपनी पुत्री का विवाह उपयुक्त व्यक्ति से करता था।
4. **प्रजापति-विवाह**—जिसमें पिता पुत्री द्वारा स्वेच्छा से किये गये विवाह को सम्मति प्रदान कर देता था।
5. **गन्धर्व-विवाह**—जिसमें लड़का और लड़की स्वेच्छा से विवाह कर लिया करते थे।
6. **असुर-विवाह**—जिसमें पुरुष धन लेकर स्त्री से विवाह करता था।
7. **राक्षस-विवाह**—जिसमें पुरुष स्त्री को जबरदस्ती उठाकर ले जाता था और उससे विवाह करता था, और
8. **पिशाच-विवाह**—जिसमें पुरुष स्त्री को धोखा देकर अथवा उसकी नाजानकारी में उसे उठाकर ले जाता था और उससे विवाह करता था। परन्तु ऐसा विवाह समाज से स्वीकृत न था।

साधारणतया 'एकपत्नी-प्रथा' प्रचलित थी परन्तु 'बहुपत्नी-प्रथा' भी थी। परन्तु एक स्त्री के कई पति हों, यह नाममात्र को ही था और वह भी सम्भवतया कुछ विशेष वर्गों अथवा स्थानों तक ही सीमित था। बाल-विवाह नहीं होते थे और स्त्रियाँ स्वेच्छा से विवाह करती थीं। विधवा-विवाह पर कोई बन्धन नहीं था, यद्यपि यह साधारण नियम न था। सती-प्रथा भी प्रचलित नियम न था, यद्यपि राजवंशों में कभी-कभी ऐसे उदाहरण मिल जाते थे। पर्दा-प्रथा नहीं थी और स्त्रियाँ नृत्य एवं संगीत जैसी ललितकलाओं के अतिरिक्त धार्मिक शिक्षा भी प्राप्त करती थीं। पत्नी की दृष्टि से घर में स्त्री का बहुत सम्मान था। *शतपथ-ब्राह्मण* में स्त्री को पुरुष की अर्धांगिनी कहा गया है। **गार्गी** और **मैत्रेयी** जैसी *विदुषी स्त्रियाँ* इसी काल में हुईं। स्त्रियों को कुछ विशेष सुविधाएँ भी प्राप्त थीं। धर्म-सूत्रों ने स्मृतियों की तुलना में स्त्रियों के प्रति अधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया था, जैसे कि *वशिष्ठ-धर्मसूत्र* में पत्नी को किसी भी स्थिति में त्याज्य नहीं माना गया है। उसमें लिखा है कि "एक पत्नी को त्यागा नहीं जायेगा चाहे वह झगड़ालू हो, चाहे दोषी हो, चाहे घर छोड़कर चली गयी हो, चाहे उसके साथ बलात्कार हुआ हो अथवा चाहे वह चोरों के हाथों पकड़ी जा चुकी हो।"[1] इसी प्रकार उसमें एक व्यभिचारिणी

---

1 "A wife shall not be abandoned even though she be quarrelsome or tainted by sin, or have left house, or have suffered criminal force, or have fallen into the hands of thieves." —*Vasistha Dharam-Sutra* ("The Vedic Age", *The History and Culture of the Indian People*, Vol. I).

Scanned with CamScanner

पत्नी को प्रायश्चित करने के उपरान्त पति के द्वारा स्वीकार करने योग्य बताया है, पत्नी को त्यागने वाले पति के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की है जबकि पति को त्यागने वाली पत्नी के लिए सिर्फ प्रायश्चित बताया है, जाति से बहिष्कृत पिता का एक पुत्र के द्वारा त्याग (परन्तु माँ का त्याग नहीं) उचित ठहराया गया है, जबकि एक जाति से बहिष्कृत पिता की पुरुष-सन्तान को जाति से बहिष्कृत करना और उसकी पुत्री को इस दोष से मुक्त करना उचित माना गया है।

परन्तु तब भी इस काल में, मुख्यतया बाद के समय में (स्मृति-काल में) स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आ गयी थी। पुत्री का जन्म बुरा माना जाने लगा था, कन्याओं को बेचने तथा दहेज देने के उदाहरण भी प्राप्त हो जाते हैं। स्त्रियाँ राजनीतिक सभाओं में भाग नहीं ले सकती थीं और परिवार के अनेक धार्मिक कार्य अब उनके स्थान पर पुरोहित करने लगा था। व्यावहारिक दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति में गिरावट आ गयी थी, यह अन्य धर्म-ग्रन्थों में उनके बारे में दिये गये विवरणों से भी ज्ञात होता है। अथर्ववेद कन्याओं के जन्म की निन्दा करता है। *ऐतरेय-ब्राह्मण* में उल्लेख है कि "एक अच्छी स्त्री वह है जो उत्तर नहीं देती।" 'ऐतरेय-ब्राह्मण' में पुनः उल्लेख है कि "पुत्री दुःख का कारण है जबकि पुत्र परिवार का रक्षक होता है।" स्त्री की सर्वाधिक गिरी हुई स्थिति 'मैत्रेयनी-संहिता' में प्राप्त होती है जिसमें जुआ और शराब की भाँति स्त्री को पुरुष का तीसरा मुख्य दोष बताया गया है। 'गौतम-धर्मसूत्र' के अनुसार, कन्या का विवाह मासिक-धर्म के प्रारम्भ होने से पहले कर देना चाहिए। एक वाद-विवाद के दौरान ऋषि याज्ञवल्क्य ने गार्गी से कहा था कि अधिक विवाद न करो अन्यथा तुम्हारा सिर तोड़ दिया जायेगा। कहीं-कहीं पर क्षत्रियों में सती-प्रथा और स्त्रियों को पुरुषों के सम्मुख खुले मुँह न जाने (पर्दा-प्रथा का आरम्भ) की प्रथा भी आरम्भ हुई।

(iv) **भोजन, वस्त्र, आभूषण, मनोरंजन आदि**—इस काल में आर्यों का मुख्य भोजन अन्न, दूध तथा दूध से बने हुए अन्य पदार्थ एवं माँस था। जौ और चावल उनके मुख्य अन्न थे। चावल की कृषि होने लगी थी। गेहूँ का प्रयोग कम था। सुरा और सोम अब भी उनके पेय-पदार्थ थे।

वस्त्रों में निश्चय ही प्रगति हो गयी थी। सूती और ऊनी वस्त्रों के अतिरिक्त रेशमी वस्त्रों का प्रयोग भी आरम्भ हो गया था। ये विभिन्न रंगों के तथा सिले हुए होते थे। मृग-चर्म अब भी प्रयोग में आता था। वास, अधिवास और नीवी के अतिरिक्त तार्प्य, पगड़ी, उत्तरीय, कम्बल, शाल, आदि अन्य वस्त्र प्रयोग में आते थे। जूते का प्रयोग भी होता था।

स्त्री और पुरुष, दोनों ही विभिन्न आभूषण पहनते थे। सोने और कीमती पत्थरों के अतिरिक्त अब आर्य चाँदी का प्रयोग भी करने लगे थे जिसका ज्ञान ऋग्वैदिक आर्यों को न था।

इस काल में आर्यों ने नगरों का निर्माण कर लिया था और बड़े-बड़े विशाल भवन और महल बनने लगे थे। कौशाम्बी और हस्तिनापुर में इस समय के नगरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं।[1]

मनोरंजन के साधनों में नृत्य, संगीत, जुआ, रथ-दौड़ के अतिरिक्त घुड़दौड़ भी सम्मिलित हो गयी थी।

Scanned with CamScanner

आर्यों का नैतिक जीवन अब भी श्रेष्ठ था। सदाचार और सत्कर्म उनके जीवन के आधार थे।

(v) **शिक्षा**—शिक्षा का प्रारम्भ *उपनयन-संस्कार* से होता था। राज्य की ओर से शिक्षा का प्रबन्ध न था अपितु गुरु अपने घरों अथवा आश्रमों में निःशुल्क शिक्षा प्रदान करते थे। विद्यार्थियों को गुरु के पास ही रहना पड़ता था। वे प्रत्येक प्रकार से गुरु की आज्ञा का पालन करते थे, उसकी सेवा करते थे, भिक्षा माँगकर लाते थे और शिक्षा समाप्त होने पर गुरु को स्वेच्छा से गुरु-दक्षिणा देते थे। स्त्री-पुरुष दोनों ही शिक्षा प्राप्त करते थे और विद्वान् स्त्रियाँ शिक्षा प्रदान भी करती थीं। धार्मिक और नैतिक शिक्षा प्रधान थी। स्वाध्याय, प्राणायाम और शारीरिक परिश्रम पर बल दिया जाता था। साधारणतया शिक्षा-काल 12 वर्ष का था। इस काल में आर्यों को लेखन और लिपि का ज्ञान हो गया था परन्तु शिक्षा अब भी मौखिक ही दी जाती थी। इस कारण स्मरण-शक्ति शिक्षा के लिए परम आवश्यक थी। सम्भवतया आर्यों को लिपि का ज्ञान 700 ई. पू. में हुआ क्योंकि 500 ई. पू. से लिपि का प्रयोग पूर्णरूपेण आरम्भ हो चुका था। शिक्षा में विवाद-प्रणाली का भी महत्वपूर्ण स्थान था।

धर्म के अतिरिक्त, शिक्षा के मुख्य विषय इतिहास, व्याकरण, गणित, तर्क, ज्योतिष, नीतिशास्त्र, आयुर्वेद, शस्त्र-शिक्षा आदि थे। संस्कृत आर्यों की मुख्य भाषा थी परन्तु यह जनसाधारण की भाषा न थी।

4. आर्थिक जीवन (Economic Life)

Scanned with CamScanner